जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है । आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है ।

– रामचंद्र शुक्ल

साहित्येतिहास भी, अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह, कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर, युग विशेष के लेखक-समूह की कृति-समष्टि का इतिहास ही हो सकता है ।

– नलिन विलोचन शर्मा

हिंदी भाषा और साहित्य का आरंभ

हिंदी भाषा और साहित्य का आरंभ कब से मानना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत आसान नहीं है । वस्तुत: इस प्रारंभिक काल का सीमा-निर्धारण हिंदी साहित्य के इतिहास का सर्वाधिक विवादास्पद विषय रहा है । हिंदी साहित्य का प्रारंभ वहाँ से मानना चाहिए, जहाँ से हिंदी भाषा का प्रारंभ हुआ है । हिंदी जिस भाषाधारा के विशिष्ट दैशिक और कालिक रूप का नाम है, भारत में उसका पूर्ववर्ती रूप अपभ्रंश है । हिंदी भाषा अपभ्रंश से कब निकली, इस संबंध में विद्वानों और इतिहास लेखकों में मतैक्य नहीं है ।

हिंदी भाषा का विकास एक जनभाषा के रूप में हुआ है । कोई भी जनभाषा अपने प्रवाह की अक्षुण्णता में सदा एकरूप नहीं रह सकती । स्थान और काल के भेद से उसमें रूप-भेद भी स्वत: उत्पन्न हो जाते हैं, किंतु जब तक उन रूपों की तात्त्विक एकता सुरक्षित रहती है तब तक वे एक ही भाषा का बोध कराते हैं । हिंदी भाषा ने भी स्थान और काल के भेद से अपनी दीर्घ यात्रा में अनेक रूप धारण किए

हैं। मैथिली, भोजपुरी, मगही, अँगिका, वज्जिका, अवधी, कन्नौजी, बघेलखंडी, बुंदेलखंडी, ब्रज, खड़ीबोली, बांगरू, मेवाती, हाड़ौती, मारवाड़ी, मेवाड़ी, ढूँढारी, मालवी, पहाड़ी आदि उसके अनेक रूप-भेद पाए जाते हैं, किंतु इन सब में तात्त्विक एकता विद्यमान है। अतः भाषा के रूप-भेद को भुलाकर तात्त्विक परिवर्तन के आधार पर ही एक भाषा के अंत और दूसरी भाषा के आरंभ का इतिहास स्वीकार करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से अपभ्रंश को एक अलग भाषा मानकर उसके समानांतर तात्त्विक आधार पर भिन्नरूप से विकसित भाषा को पृथक नाम देने की आवश्यकता है । यद्यपि अपभ्रंश अपने मूल रूप में पंद्रहवीं शताब्दी तक साहित्य की भाषा बनी रही, तथापि सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा पृथक होकर उसके समानान्तर साहित्य रचना का माध्यम बन गई थी। इसी भाषा को कुछ विद्वानों ने 'उत्तर अपभ्रंश' या 'पुरानी हिंदी' कहा है और कुछ विद्वानों ने 'अवहट्ठ' नाम दिया है। परतु वास्तविकता यह है कि वह भाषा 'हिंदी' है, उसे 'उत्तर अपभ्रंश' या 'अवहट्ठ' नाम देना भ्रम उत्पन्न करना है। जिन विद्वानों ने ये नाम दिए हैं, वे भी अपने मत के अंतर्गत प्रायः उक्त तथ्य का समर्थन करते रहे हैं । उनके अनुसार अपभ्रंश में शब्दों के तद्भव रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति थी, किंतु जब उसमें तत्सम रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति विकसित होने लगी तब एक नई भाषा का रूप उभरा, जिसे हिंदी कहना चाहिए। वस्तुतः जनभाषा होते हुए भी हिंदी की यही एक ऐसी प्रवृत्ति है जो अपभ्रंश के बाद भी अब तक निरंतर बढ़ती रही है। अतः जिन विद्वानों ने अपभ्रंश के अतिरिक्त अवहट्ठ का झगड़ा खड़ा किया है, वे हिंदी के आरंभिक विकास को उसके आगे की धारा से काट देना चाहते हैं । इस दृष्टि से सिद्धों की रचनाओं से हिंदी साहित्य का आरंभ मानना युक्तिसंगत है। उनके साहित्य की भाषा अपभ्रंश के 'उत्तरभाषा' रूप की सूचना देती है तथा साहित्यिक अपभ्रंश से खुलकर विद्रोह कर रही होती है।

साहित्य के आरंभ का निर्णय भाषा के आधार पर तो किया ही जा सकता है, इसके अतिरिक्त एक दूसरा तत्त्व भी है, जिसे हम साहित्य की चेतना कह सकते हैं । सिद्धों की रचनाओं में यह तत्त्व नए रूप में विकसित होता हुआ दिखाई देता है तथा अपभ्रंश के साहित्य से उनका खुला विद्रोह भी झलकता है । सिद्धों की वस्तु-दृष्टि जिस धार्मिक चेतना पर आधारित है उसका सीधा संबंध 'नाथ साहित्य' से होता हुआ हिंदी के भक्तिकालीन कवियों से जुड़ता है । अतः भाषा के विकास की आरंभिक स्थिति तथा उत्तरवर्ती धार्मिक चेतना के मूल रूप को ध्यान में रखकर सिद्ध साहित्य से हिंदी साहित्य का आरंभ मानना पूर्णतः युक्तिसंगत है ।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सातवीं शताब्दी के सिद्धकवि सरहपा को हिंदी का प्रथम कवि माना है । वे 84 सिद्धों में से एक थे । उनकी कविता में अपभ्रंश का साहित्यिक रूप छूट गया है तथा बोलचाल की भाषा, जो आरंभिक हिंदी है, प्रयुक्त हुई है । वर्ण्य-विषय और चेतना की दृष्टि से भी उनका काव्य हिंदी साहित्य के भक्तिकाल का बीजांकुर है । एक तीसरा आधार और है जिस पर हम सरहपा को प्रथम हिंदी कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर सकते हैं, वह है शैली और रचना-रूप की परंपरा । सरहपा ने 'दोहा' और 'पदों' की शैली अपनी कविता में प्रयुक्त की है । यह शैली उनके बाद के प्रायः सभी हिंदी कवियों ने परंपरा के रूप में अपनाई है । हिंदी मुक्तक काव्य में 'दोहा' सबसे अधिक प्रिय छंद रहा है । उपर्युक्त तर्क की पुष्टि के लिए राहुल जी द्वारा प्रस्तुत 'हिंदी काव्य धारा' में संगृहीत सरहपा की रचना का एक अंश उद्धृत किया जाता है -

"जह मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेश ।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश ।।"

यद्यपि इस उद्धरण में अपभ्रंश भाषा के व्याकरण की प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं तथापि हिंदी के रूप की झलक ही अधिक स्पष्ट है, साथ ही तत्समता की जिस प्रवृत्ति को हिंदी भाषा का मूल रहस्य माना गया है, वह भी 'पवन', 'रवि', 'शशि', 'वट', 'चित्त' आदि शब्दों में स्पष्टत: देखी जा सकती है । अत: सातवीं शताब्दी से हिंदी भाषा और साहित्य का प्रारंभ माना जाना चाहिए ।

काल विभाजन एवं नामकरण

आदिकाल – सातवीं शती के मध्य से चौदहवीं शती के मध्य तक ।
भक्तिकाल – चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक ।
रीतिकाल – सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक ।
आधुनिक काल – उन्नीसवीं शती के मध्य से अब तक :

(क) भारतेंदु युग – 1857-1900 ई०
(ख) द्विवेदी युग – 1900-1918 ई०
(ग) छायावाद युग – 1918-1938 ई०
(घ) छायावादोत्तर युग :
(i) प्रगति-प्रयोग काल – 1938-1953 ई०
(ii) नवलेखन काल – 1953 ई० से अब तक

❑❑❑

आदिकाल

राजनीतिक स्थिति

हिंदी साहित्य का प्रारंभिक काल विशृंखलता और राजनीतिक असंतुलन का युग है । 647 ई० में हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद उत्तर भारत का साम्राज्य एकसूत्र होकर न रह सका और छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटकर राजपूत राज्यों के रूप में सामने आया । ये राजपूत राज्य निरंतर युद्धों की आग में जलते-जलते अंततः विशाल इस्लाम साम्राज्य की नींव में समा गए । आठवीं शताब्दी से पंद्रहवीं शताब्दी तक के भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थिति हिंदू सत्ता के धीरे-धीरे क्षय होने तथा इस्लामी सत्ता के धीरे-धीरे उदय होने की कहानी है ।

आदिकालीन राजनीतिक व्यवस्था में दो बातें मुख्य हैं - केंद्रीय सत्ता का ह्रास और छोटे-छोटे राज्यों का उदय । केंद्रीय व्यवस्था के ह्रास से कला, साहित्य और भाषा में स्थानीय संस्कृति का प्रभाव बढ़ने लगा। गुप्त युग और हर्ष युग की केंद्रीय सत्ता के ह्रास के बाद संस्कृत भाषा को केंद्रीयता समाप्त होती चली गई । भाषा प्राकृत और अपभ्रंश की यात्रा करती हुई देशभाषा के रूप में विकसित हुई । स्थानीयता ने शासकों के बीच मान-अपमान के भी प्रश्न खड़े किए जो उनके बीच आपसी संघर्ष का कारण बना । आपसी संघर्ष और युद्ध के दौरान शौर्य और पराक्रम के साहित्य रचे गए । चंदवरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' इसी प्रकार का काव्य है । इस प्रकार केंद्रीयता का टूटना मात्र सत्ता तक सीमित न रह सका अपितु उसके प्रभाव में जीवन का हर क्षेत्र आया ।

धार्मिक स्थिति

जब आदिकालीन साहित्य की रचना हो रही थी, उसी समय उत्तर भारत में तंत्रवाद का विकास हो रहा था और दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हो चुका था । उत्तर भारत में तांत्रिक संप्रदायों

का फैलना धार्मिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना थी । जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव सभी संप्रदायों का प्रभाव बढ़ रहा था । तंत्र, योग और भक्ति मार्ग ने जातीय विषमता की जगह समानता के महत्त्व को प्रतिपादित किया । हर जगह स्थापित जीवन मूल्यों और परंपरावादी मतवादों पर प्रश्नचिह्न खड़े किए गए । इसका प्रभाव सिद्धों और नाथों के साहित्य में आप देख सकते हैं ।

सामाजिक स्थिति

आदिकालीन समाज में सामंती प्रभाव देखने को मिलता है । इस युग में व्यापक शिक्षा व्यवस्था का अभाव, सांप्रदायिक तनाव, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा तथा विविध प्रकार के अंधविश्वासों और रूढ़ियों का बोलबाला था । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र - इन चार वर्णों की प्रधानता थी । जाति-पाँति के बंधन का कसाव मजबूत था । उच्च वर्ण के लोग भोग के लिए और निर्धन वर्ग के लोग मानो श्रम के लिए ही पैदा हुए थे । नारी भी भोग्या मात्र रह गई थी । वह क्रय-विक्रय और अपहरण की वस्तु बनती जा रही थी । धन-संपत्ति की तरह अब सुंदर नारी भी युद्ध का कारण हो गई । 'पृथ्वीराजरासो' और 'बीसलदेव रासो' में कवियों ने युद्ध का कारण नारी-हरण को परिकल्पित किया है । नारी के प्रति सामंती दृष्टिकोण का प्रभाव धर्म पर भी पड़ा । मंदिरों में देवदासियों की प्रथा शुरू हो गई थी । सिद्धों ने ब्रह्मानंद को सहवास सुख के समान माना और स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ अनेक बीभत्स विधान का प्रारंभ किया ।

आर्थिक स्थिति

यह युग पूर्णत: कृषि पर आधारित था । राज्य-कार्य किसानों से प्राप्त लगान से ही चलता था । कभी-कभी किसानों को पैदावार का पचास प्रतिशत तक लगान चुकाना होता था । कर्मचारियों को नगद न देकर जागीर दी जाती थी । इस प्रकार इस युग का समाज दो वर्गों में बँट रहा था - उत्पादक और उपभोक्ता । उत्पादक वर्ग को समाज में सम्मान प्राप्त नहीं था । कवि लोग भी उपभोक्तावर्ग की रुचि के अनुसार साहित्य की रचना करते थे । यही वजह है कि आदिकालीन साहित्य में नख-शिख वर्णन, षड्ऋतु वर्णन, शौर्य और पराक्रम का वर्णन तो है किंतु किसान वर्ग की संवेदना उपेक्षित है ।

सिद्ध कवि

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद धार्मिक स्थिति बदल गई । धार्मिक संप्रदायों की पवित्रता समाप्त होने लगी । लोग जादू-टोने और तंत्र-मंत्र में विश्वास करने लगे । तंत्रवाद प्रभावशाली हो गया । बौद्ध धर्म का विकास महायान, हीनयान, वज्रयान, मंत्रयान, सहजयान आदि शाखाओं में हुआ । बौद्ध धर्म की इन शाखाओं में तंत्र, मंत्र, हठयोग आदि के साथ पंच मकारों (मांस, मैथुन, मत्स्य, मद्य तथा मुद्रा) को भी विशेष स्थान प्राप्त हुआ । अपने इस रूप में यह मत विकारों को प्रश्रय देकर वाममार्गी हो गया । तंत्र-मंत्र, जादू-टोने तथा भोग-विलास को लेकर चलने वाले ये वाममार्गी ही बौद्ध-सिद्ध कहलाए । ये सिद्ध वज्रयान से संबंधित थे । इनकी संख्या 84 बताई जाती है । इनमें अधिकांश सिद्ध बिहार में नालंदा से लेकर भागलपुर तक के क्षेत्रों में रहते थे । प्रथम सिद्ध सरहपा को सहजयान का प्रवर्तक कहा जाता है । ये सहज जीवन पर अधिक बल देते थे । सिद्धों ने अपने साहित्य में कायायोग, सहज शून्य तथा समाधि की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया है । दूसरे शब्दों में कहें तो इन सिद्धों ने स्थापित रूढ़ मान्यताओं का विरोध किया है ।

उनके विरोधी तेवर का प्रभाव केवल साधना के स्तर पर ही नहीं है, अपितु भाषा और सामाजिक मान्यताओं के स्तर पर भी है । उनकी भाषा अंतस्साधनात्मक अनुभूतियों का संकेत करनेवाली प्रतीक भाषा है । इसे संधा भाषा भी कहते हैं । इस भाषा-शैली का उपयोग नाथों ने भी किया है । कबीर आदि निर्गुण संतों की इसी भाषा-शैली को उलटबाँसी कहा जाता है । कुछ प्रमुख सिद्ध कवि हैं – सरहपा, कण्हपा, शबरपा लुइपा, मीनपा आदि । इनके नामों में प्रत्यय की तरह 'पा' आदरार्थ 'पाद' शब्द का संक्षिप्त रूप है ।

नाथ कवि

नाथों में कई मूलतः सिद्ध थे । सिद्धों में तंत्र-मंत्र, जादू-टोने और भोगमूलक गुह्याचार जब बढ़ चले तब वे व्यापक लोकजीवन से कट गए । ऐसे में लोकसम्मत सदाचार, संयम-नियम से परिपूर्ण प्राचीन योग-साधना शैव मत का आधार लेकर प्रभावशाली हो उठी । अनेक सिद्ध इसके प्रभाव में आए । इनमें मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, जलंधरनाथ आदि प्रमुख थे । इनके नेतृत्व में नाथपंथ का प्रादुर्भाव हुआ । स्पष्टतः नाथपंथ का दार्शनिक आधार शैव मत है और व्यवहार में उन्होंने पतंजलि के हठयोग को अपनाया है । सिद्धों ने साधना को लोकबाह्य और विकृत बना दिया था लेकिन नाथपंथियों ने उसे फिर से जनता के लिए संभव बनाने पर जोर दिया । नाथ साहित्य में दो महत्त्वपूर्ण बातें सामने आती हैं । पहली यह कि नाथ साहित्य में धर्मनिरपेक्ष दृष्टि दिखाई देती है । इसमें ईश्वर से मिलाने वाला योग हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य साधना के रूप में प्रस्तुत हुआ है । नाथपंथ में धार्मिक कट्टरता नहीं मिलती है । नाथों के साहित्य में यायावरी साहित्य का गुण मिलना दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है । नाथ योगी अपने धर्म-प्रचार के लिए विभिन्न प्रदेशों की यात्रा करते थे । देश के मध्य भाग तथा पश्चिमी भाग में वे घूमते रहते थे । यात्रा में विभिन्न प्रदेशों की संस्कृति, भाषा और व्यवहार से परिचय होता था । यह प्रभाव उनकी भाषा पर भी पड़ा । नाथों ने धर्म के स्तर पर ही सहिष्णुता और आपसी सद्भाव की भावना विकसित नहीं की, अपितु भाषा के स्तर पर भी उन्होंने इस भाव को अर्जित किया । इसी भाषा की प्रस्तावना बाद के निर्गुण साहित्य में भी मिलती है । कबीर आदि ने इसी प्रकार की भाषा को अपनाया । नाथ साहित्य का व्यापक योगदान संत साहित्य को परंपरा का अपना उत्तराधिकार सौंपने में है । सिद्धों की संधा भाषा की तरह उलटबाँसी शैली का प्रयोग इन्होंने भी किया है । नाथपंथी योगी कवियों में मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ प्रमुख हैं ।

जैन साहित्य

जैन धर्म का उदय भी उन्हीं आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में हुआ था, जिनमें बौद्ध धर्म का जन्म हुआ था । जैनधर्म के अंतिम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तीर्थंकर वर्धमान महावीर गौतम बुद्ध के समकालीन थे । जैनधर्म एक ओर ब्राह्मणों के पुरोहितवाद, वैदिकी हिंसा और वेदांती आदर्शवाद तथा दूसरी ओर इस समय प्रचलित भौतिकवादी विचारों के विरुद्ध अनवरत संघर्ष की प्रक्रिया में एक दर्शन प्रणाली के रूप में उभरा। जैन मतावलंबियों की दृष्टि में भौतिकवादी और वेदांती दोनों ही विधर्मी थे । उनकी मान्यता थी कि ईश्वर की अवधारणा के बिना इस ब्रह्मांड के रहस्य को सुलझाना और जीवन में पूर्णता प्राप्त कर लेना संभव है ।

जैन मतावलंबी कवियों ने अपनी रचनात्मकता की अभिव्यक्ति अपभ्रंश भाषा में की है । अतः उनकी अधिकांश रचनाएँ अपभ्रंश साहित्य के अंग हैं । लेकिन कुछ साहित्य ऐसा है जिसे हिंदी भाषा और

साहित्य की रचना कहा जा सकता है, यथा – शालिभद्र सूरि की रचना 'भारतेश्वर बाहुबलि रास', असुग की कृति 'चंदनबाला रास' आदि । प्रारंभिक हिंदी रचनाओं की सृजनात्मक अनुभूति को समझने के लिए जैन साहित्य का अध्ययन आवश्यक है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल धार्मिक साहित्य के आधार पर जैन ग्रंथों को हिंदी से बाहर रखना चाहते हैं । लेकिन उनके बाद के विद्वान उनसे सहमत नहीं हैं क्योंकि धार्मिकता साहित्यिक संवेदना का अवरोधक तत्व नहीं है । अगर ऐसा होता तो भक्तिकाल हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग नहीं होता ।

जैन मत से प्रभावित अधिकांश काव्य गुजरात, राजस्थान और दक्षिण में रचे गए । जैन साहित्य का महत्व इस बात में भी है कि वह जैन ग्रंथागारों में सुरक्षित होने के कारण अपनी प्रामाणिकता के साथ उपलब्ध है । जैन साहित्य में तीन प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं । प्रथम प्रकार की रचनाओं में जैन साधकों की प्रेरक जीवन कथा या लोक प्रचलित कथाओं को आधार बनाकर जैन मत का प्रचार किया गया है । जैन पौराणिक एवं चरित काव्य इसी प्रकार की रचनाएँ हैं । स्वयंभू और पुष्पदंत इस श्रेणी के विशिष्ट कवि हैं । द्वितीय प्रकार की रचनाओं में नाथ-सिद्धों की तरह अंतस्साधना, उपदेश, नीति, सदाचार पर बल है और कर्मकांड का खंडन है । दोहों में रचित ये मुक्तक रचनाएँ हैं जिनमें रास, फाग, चर्चरी आदि काव्यों का विवेचन किया गया है । तृतीय प्रकार की रचनाओं में हेमचंद्र और मेरुतुंग की रचनाओं को लिया जा सकता है जिनमें विविध रसों और भावों की प्रकीर्ण मुक्तक रचनाएँ एवं दोहे हैं ।

जैन आचार्य हेमचंद्र (12वीं शती) का 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन' अपभ्रंश का व्याकरण ग्रंथ है । इस ग्रंथ में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का समावेश मिलता है । आचार्य मेरुतुंग की रचना 'प्रबंधचिंतामणि (1305) संस्कृत ग्रंथ 'भोज प्रबंध' के ढंग पर लिखी गई थी । इसमें बहुत से प्राचीन राजाओं के आख्यान संगृहीत किए गए थे । हेमचंद्र के व्याकरण ग्रंथ और मेरुतुंग की प्रबंधचिंतामणि में कुछ जैनेतर रचनाएँ भी संकलित हैं । सदाचार, उपदेश, रहस्य-साधना वाली मुक्तक रचनाएँ सिद्धों की रचनाओं से बहुत मिलती हैं । इनमें भी 'सहज' पर जोर दिया गया है । जोइंदु (10वीं शताब्दी), रामसिंह (लगभग 12वीं शताब्दी) आदि इसी कोटि के प्रमुख जैन कवि हैं । पौराणिक काव्य धारा में अपभ्रंश के महान कवि स्वयंभू आते हैं, जिन्होंने राम कथा को आधार बनाकर 'पउम चरिउ' की रचना की । स्वयंभू 8वीं शती के कवि हैं । पउम चरिउ जायसी के पद्मावत और तुलसीदास के रामचरितमानस की ही तरह कड़वकबद्ध है । अपभ्रंश के अन्य प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत (10वीं शती) ने 'महापुराण' की रचना की। इनके अतिरिक्त जैन अपभ्रंश कवियों ने भारी संख्या में चरितकाव्य लिखे हैं । इनमें पुष्पदंत का 'णायकुमार चरिउ', 'जसहर चरिउ'; कनकामर मुनि (11वीं शती) का 'करकंड चरिउ' अधिक प्रसिद्ध हैं । 'भविसयत्त कहा' नामक प्रसिद्ध अपभ्रंश कथाकाव्य धनपाल (10वीं शताब्दी) की ऐसी रचना है, जिसमें लोक प्रचलित कथा को सरल भी बनाए रखा गया है और जैनमत में दीक्षित होने की प्रेरणा भी दी गई है ।

शृंगारपरक लौकिक काव्यों की भी कमोबेश यही स्थिति है । संयोग से 'राउलवेल' (11वीं शती) और संदेशरासक (13वीं शती) नामक दो शुद्ध लौकिक शृंगारी काव्य प्रामाणिक तौर पर उपलब्ध हैं । संदेशरासक का महत्व इस बात के लिए भी है कि वह किसी भारतीय भाषा में रचित मुसलमान कवि की प्रथम रचना है । संदेशरासक तीन प्रक्रमों में विभाजित 223 छंदों का संदेश काव्य है । राउलवेल का रचयिता 'रोडा' नामक कवि है जिसने किसी राजा के अंतःपुर में रहने वाली विभिन्न प्रदेशों की रानियों का वर्णन

किया है ।

इस काल में आश्रयदाता राजाओं को भी आधार बनाकर काव्य रचे जाते थे । हेमचंद्र रचित 'प्राकृत पैंगलम' के छंद इसकी पुष्टि करते हैं ।

अपभ्रंश काल में दोहा, पद्धड़िया, गेयपद आदि प्रमुख छंद और काव्यरूप हैं । वीरता, शृंगार, नीति, धर्म विषयक कृतियाँ दोहा छंद में हैं। हेमचंद्र के व्याकरण में भी अपभ्रंश के दोहे संकलित हैं । इससे स्पष्ट है कि दोहा उस समय लोकप्रिय छंद था । इन दोहों की अभिव्यक्ति इतनी निश्छल और सहज है कि इन्हें लोक साहित्य की कोटि में रखा जा सकता है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु ।

लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥

(अर्थात भला हुआ जो मारा गया हे बहिन हमारा कंत । यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती ।)

वीरगाथा काव्य

हिंदी साहित्य के विकास क्रम को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आदिकाल को उसकी प्रसिद्ध रचनाओं की प्रमुख पद्धति के आधार पर 'वीरगाथा काल' की संज्ञा दी । इस नामकरण के लिए उन्होंने तर्क दिया है कि ''....राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी करते थे । यही प्रबंध परंपरा रासो नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथाकाल' कहा है ।'' आचार्य शुक्ल ने इस काल की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति की पहचान निम्नलिखित 12 ग्रंथों के आधार पर की है – **विजयपाल रासो, खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचंदप्रकाश, जयमयंक जस चंद्रिका, हम्मीर रासो, परमाल रासो, विद्यापति की पदावली, कीर्तिलता, कीर्ति पताका** और **अमीर खुसरो की पहेलियाँ** ।

इन बारह ग्रंथों में कुछ ही ग्रंथ प्रामाणिक रूप में उपलब्ध हैं – विद्यापति रचित ग्रंथ – 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका' तथा 'पदावली' एवं नरपति नाल्ह द्वारा रचित 'बीसलदेव रासो' । इनमें से कीर्तिपताका के संपादित एवं प्रकाशित होने का उल्लेख नहीं मिलता है । बीसलदेव रासो की कुछ पंक्तियों में इसका रचना काल 1155 ई० मिलता है लेकिन डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसे 13वीं शती की रचना मानते हैं । बीसलदेव रासो के पाठ का संपादन एवं प्रकाशन डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा ही हुआ है । जगनिक कृत 'परमाल रासो' की पहचान उनकी मौखिक वीर रसात्मक रचना आल्हा के रूप में की जाती है । आल्हा विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में गाई जाने वाली लोकगाथा है । कहा जाता है कि परमाल रासो की कथा आल्हा और ऊदल की वीरता पर आधारित है । जगनिक संभवतः परमाल और पृथ्वीराज के समकालीन (12वीं शती) थे । 'विजयपाल रासो' नल्ल सिंह की रचना है । इसमें विजयपाल और पंगराजा की लड़ाई का वर्णन है । मिश्रबंधुओं के अनुसार इसका रचनाकाल 14वीं शती है । भाषा शैली के आधार पर यह रचना परवर्ती काल की सिद्ध हो गई है, फिर भी इसे पूर्ववर्ती वीरगाथा की परंपरा के विकास की कड़ी माना जा सकता है ।

'हम्मीर रासो', 'जयचंद प्रकाश', 'जयमयंक जसचंद्रिका' उपलब्ध नहीं हैं । शार्ङ्गधर कृत हम्मीर रासो के कुछ छंद प्राकृत पैंगलम में मिलते हैं । दलपत विजय द्वारा रचित 'खुमान रासो' में 9वीं शताब्दी के खुमान के युद्ध का वर्णन है । लेकिन मेवाड़ के परवर्ती शासकों महाराणा प्रताप सिंह और राजसिंह के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका रचनाकाल 17वीं शताब्दी के आसपास है ।

रासो काव्य परंपरा का सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य चंदवरदाई रचित 'पृथ्वीराजरासो' है । इस काव्य की प्रामाणिकता और रचना काल को लेकर काफी विवाद हुआ है । इसके रचयिता चंदवरदाई परंपरा के अनुसार अपने चरितनायक पृथ्वीराज के सभाकवि एवं मित्र जाने जाते हैं । प्राच्य विद्या के यूरोपीय पंडितों को आशा थी कि इस ग्रंथ से मध्यकालीन इतिहास प्रकाश में आएगा । इसलिए डॉ० बूलर को जब जयानक रचित संस्कृत काव्य 'पृथ्वीराज विजय' की खंडित प्रति प्राप्त हुई और उसमें रासो के विपरीत इतिहास सम्मत तथ्यों का उल्लेख देखकर उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि चंदवरदाई पृथ्वीराज चौहान के सभापति नहीं थे, इस रूप में यह जाली ग्रंथ है । उन्होंने तत्काल इसके प्रकाशन को रोकने की सिफारिश भी की थी ।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में तीन वर्ग बन गए थे – पृथ्वीराजरासो को उसके चरितनायक के समय की रचना नहीं मानने वाले विद्वानों में डॉ० बूलर, श्री गौरी शंकर हीराचंद ओझा, कविराज श्यामलदीन, मुंशी देवी प्रसाद तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रमुख हैं । डॉ० श्यामसुंदर दास, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, मिश्रबंधु तथा कर्नल टॉड इसे प्रामाणिक मानते हैं जबकि मुनिजिन विजय, डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ० नामवर सिंह इसे अर्द्धप्रामाणिक मानते हैं ।

श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार पृथ्वीराज रासो 1543 ई० के आसपास लिखा गया। पृथ्वीराज रासो में उल्लिखित कुछ तथ्य इतिहास विरुद्ध मालूम होते हैं जो उसे अप्रामाणिक सिद्ध करते हैं, लेकिन अब उसकी ऐतिहासिकता की खोज बंद कर दी गई है । मुनिजिन विजय ने पुरातन प्रबंध संग्रह में जो चार छप्पय प्रकाशित किए हैं वे वर्तमान में भी विकृत रूप में विद्यमान हैं । पुरातन प्रबंध संग्रह का काल 15वीं शती है । इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान रासो में चंद के मूल छंद मिले हुए हैं और निश्चय ही चंदवरदाई का काव्य पुरातन प्रबंध संग्रह से काफी पहले की प्रामाणिक रचना है। लेकिन रासो का मूल रूप क्या रहा होगा इसकी समस्या अभी भी बनी हुई है ।

पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बड़े ही तर्कसंगत ढंग से यह स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीराज रासो काव्यरूप एवं शिल्प की दृष्टि से ऐसी रचना है जैसी अपभ्रंश में रासक या रासो नाम की रचनाएँ बारहवीं शताब्दी तक लिखी जाती थीं । शुक-शुकी संवाद के रूप में कथा वर्णन की शैली तथा तत्कालीन काव्य में प्रचलित विविध कथानक रूढ़ियों के भी लक्षण थे और रासकों के भी । आचार्य द्विवेदी के अनुमान से 'पृथ्वीराज रासो' में शुक-शुकी संवाद के रूप में जो प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं वे हैं – आरंभिक अंश, इंछिनी विवाह, शशिव्रता का गंधर्व विवाह, संयोगिता का जन्म, विवाह, तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना । इन प्रसंगों से पता चलता है वीर और शृंगार रासो के प्रमुख रस हैं, हालाँकि अंगी रस वीर ही माना जाएगा । उपर्युक्त प्रसंगों का वर्णन कवि चंद ने विविध छंदों में सहृदयतापूर्वक किया है ।

बीसलदेव रासो नरपति नाल्ह की रचना है । पाठ के अनुसार इसका रचनाकाल 1155 ई० है ।

यह प्रधानतः शृंगार काव्य है जिसमें बीसलदेव जैसे वीर राजा की वीरगाथा के स्थान पर बीसलदेव और भोज परमार की पुत्री के कल्पित विवाह, वियोग और पुनर्मिलन का वर्णन है । हिंदी काव्य में प्रयुक्त बारहमासा का वर्णन सबसे पहले बीसलदेव रासो में ही देखने को मिलता है ।

विद्यापति (1360-1448)

विद्यापति ने तीन भाषाओं - संस्कृत, अवहट्ठ और मैथिली में रचनाएँ कीं । संस्कृत में 'शैवसर्वस्वसार', 'गंगावाक्यावली', 'भूपरिक्रमा', 'पुरुषपरीक्षा' आदि, अवहट्ठ में 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' तथा मैथिली में 'पदावली' उनकी कृतियाँ हैं, पर उनकी जनप्रियता का आधार मैथिली में रचित कोमलकांत पदावली ही है । उनके पदों में शिव, दुर्गा और गंगा के प्रति अनन्य आस्था है, साथ ही राधा और कृष्ण के प्रेम की निष्कलुष और ईमानदार अभिव्यक्ति । आद्य शक्ति राधा और विष्णु के अवतार कृष्ण के प्रेम की अभिव्यक्ति विद्यापति सामान्य प्रकृत धरातल पर करते हैं । भक्ति और शृंगार विद्यापति के लिए विरोधी स्थितियाँ नहीं हैं ।

विद्यापति की कालजयिता का कारण जन-जीवन के राग, उल्लास, स्फूर्ति साथ ही उसके अभावों और दुखों से उनका अकृत्रिम जुड़ाव है । 'हे सखि मानुष जनम अनूप' कहकर वे मनुष्य जीवन की विशिष्टता उद्घाटित करते हैं । उनके भक्ति पदों में विनम्रता और सहजता का निश्छल प्रभाव है, एक उदाहरण देखें -

बड़ सुख सार पाओल तुअ तीरे
छोड़इत निकट नयन बह नीरे ।

विद्यापति के यहाँ प्रेम की तीक्ष्णता ऐसी है कि प्रिय हर पल नया लगता है, वहाँ तृप्ति नहीं है - 'जनम अवधि हम रूप निहारल, नयन न तिरपित भेल' । कृष्ण के वियोग में दुखी गोपियों को वे प्रबोधन देते हैं -

भनहि विद्यापति गाओल रे, धैरज धर नारि ।
गोकुल होयत सोहावन रे, फीरि मिलत मुरारि ।

विद्यापति के पद लोक में सुरक्षित रहे, इसलिए उनकी भाषा में परिवर्तन भी होता रहा है । अवहट्ठ में रचित 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में क्रमशः राजा कीर्ति सिंह और राजा शिवसिंह की वीरता, दान आदि का वर्णन है ।

अमीर खुसरो (1253-1325)

अमीर खुसरो का जन्म उत्तर प्रदेश के एटा जिले के पटियाली कस्बे में हुआ था । बहुमुखी प्रतिभा के धनी खुसरो सूफी संत हजरत निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे । अपने गुरु की मृत्यु पर कहा उनका यह दोहा अत्यंत लोकप्रिय है -

गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस ।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस ॥

अरबी, फारसी, संस्कृत जैसी कई भाषाओं के ज्ञाता खुसरो की कविता में खड़ी बोली, ब्रजभाषा और अवधी के रूप मिल जाते हैं। विद्वानों में खुसरो की हिंदी कविता को लेकर मतभेद रहा है कि इसकी भाषा बदली हुई है, पर इतना तो सत्य है कि खुसरो ने इन भाषाओं का उपयोग किया और यह भी कि खुसरो के समय ये भाषाएँ इतनी सशक्त हो चुकी थीं कि इनका कविता में उपयोग हो सके। हिंदी या हिंदवी से खुसरो का प्रेम उनके इस कथन में व्यक्त होता है - चूं मन तूती-ए-हिंदम अर रास्त पुर्सी। जिमन हिंदुवी पुर्स ता नग्ज़ गोयम। (यदि आप मुझसे सच पूछें तो मैं हिंद का तोता हूँ। आप मुझसे मीठी बातें सुनना चाहते हैं तो हिंदी में पूछिए।)

कविता में उन्होंने कई प्रयोग किए। फारसी और ब्रज को मिलाकर गजलें कहीं, गीत लिखे। उनकी 'पहेलियाँ' और 'मुकरियाँ' प्रसिद्ध हैं। उनका एक दोहा द्रष्टव्य है -

> खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
> तन मेरो मन पीउ को, दोऊ भए एक रंग॥

लौकिक साहित्य

आदिकालीन साहित्य में धार्मिक साहित्य और चारणों की प्रशस्तिपरक रचनाओं से भिन्न दूसरे प्रकार की लौकिक काव्यधारा भी प्रवाहशील थी। साहित्य की यह लोकधारा ही वास्तविक अर्थ में देशभाषा काव्य थी जो हिंदी साहित्य के विकास के मूल में है। आदिकाल में मुलतान, राजस्थान, दिल्ली, अवध और मिथिला से लौकिक सहित्य प्राप्त हुए हैं। इस संदर्भ में कवि अद्दहमाण, अमीर खुसरो, ज्योतिरीश्वर ठाकुर और विद्यापति के नाम उल्लेखनीय हैं। इन रचनाकारों की भाषा पर स्थानीयता का गहरा रंग चढ़ा हुआ है।

संदेश रासक

इसकी रचना कवि अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) के द्वारा बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में मूल स्थान (मुलतान) के आसपास हुई थी। इसकी रचना अपभ्रंश भाषा में, किंतु बोलचाल के अधिक नजदीक थी। 'संदेश रासक' एक दूत काव्य है। काव्य की मूल कथा में विजय नगर की प्रोषितपतिका नायिका का वर्णन है जिसका पति धनार्जन हेतु खंभात गया है। यह विरहिणी नायिका एक पथिक के माध्यम से अपनी विरहानुभूति का संदेश पति तक संप्रेषित करना चाहती है। इसमें मंगलाचरण, आत्म-परिचय, ग्रंथ लिखने के औचित्य, षड्ऋतु वर्णन तथा रूप वर्णन जैसी शास्त्रीय रूढ़ियों की कमी नहीं है, फिर भी उसमें नारी के करुणामय हृदय का संदेश मार्मिक है। इस काव्य में लोक जीवन के अछूते चित्र प्राप्त होते हैं।

ढोला मारू रा दूहा

'ढोला मारू रा दूहा' की रचना ग्यारहवीं शताब्दी में पश्चिमी राजस्थान में हुई थी। यह एक लोकभाषा काव्य है। इस काव्य कृति में कथानक इस प्रकार से बुना गया है कि कथा का मुख्य सूत्रधार राजकुमार ढोला ही प्रतीत होता है। राजकुमार ढोला दो विवाह करता है। उसका प्रथम विवाह मारवणी से होता है। राजकुमार ढोला शीघ्र ही मालव प्रदेश की यात्रा करता है और वहाँ एक दूसरी लड़की मालवणी से प्रेम करने लगता है। मारवणी अपने प्रदेश में विरह व्यथा से ग्रस्त है। मारवणी अपनी आंतरिक वेदना

का संदेश ढाढ़ियों के माध्यम से राजकुमार ढोला तक पहुँचाती है । वस्तुतः यह काव्य पुरुष की स्वेच्छाचारी मनोवृत्ति एवं नारी जीवन की पराधीनता और विवशता की ओर ध्यान आकृष्ट करता है । हिंदी साहित्य में दोहा के विकास को समझने में 'ढोला मारू रा दूहा' का व्यापक महत्त्व है ।

गद्य रचनाएँ

आदिकालीन हिंदी साहित्य में देश के विविध भागों में विविध प्रकार की गद्य रचनाएँ भी हो रही थीं । गद्य रचना में जीवन और समाज की वास्तविकता को प्रकट करने की शक्ति होती है । आदिकाल में जितने प्रकार की गद्य रचनाएँ मिलती हैं, उनमें कहीं न कहीं तत्कालीन जीवन के यथार्थ का वर्णन है । इस युग की गद्य कृतियों में रोडा के 'राउलवेल' के अतिरिक्त दामोदर भट्ट रचित 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' (12वीं शती) ज्योतिरीश्वर ठाकुर की कृति 'वर्ण रत्नाकर' (14वीं शती), उक्ति व्यक्ति संदेश (14वीं शती), चौरंगीपा की रचना 'प्राण सकली' तथा विद्यापति की 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' (14वीं शती) के नाम उल्लेखनीय हैं ।

सामान्य विशेषताएँ एवं महत्त्व

आदिकाल के नाम से अभिहित हिंदी साहित्य का प्रथम युग अपनी विविधता और परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के लिए जाना जाता है । इस युग में राजनैतिक उथल-पुथल, विदेशी आक्रमण तथा संस्कृतियों के संक्रमण से अशांति और बिखराव का परिवेश बनता चला गया । यहाँ छिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति, विविध धर्म, संप्रदाय एवं दर्शनों का फैलता प्रभाव है । टोने-टोटके, तंत्र-मंत्र, जादू-चमत्कार से जनता आकर्षित-भ्रमित दिखाई पड़ती है । एक ओर जहाँ जैन, वैष्णव, शैव, कापालिक, शाक्त, सिद्ध एवं नाथ आदि कई धार्मिक संप्रदायों ने तद्‌युगीन साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज की है तो वहाँ दूसरे कवियों ने अपने आश्रयदाताओं और उनके पूर्वजों के पराक्रम, रूप एवं दान की प्रशंसा की है । भूमि और नारी का हरण भी राजाओं पर लिखे गए काव्य के सामान्य विषय हैं । आदिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों में एक अंतराल है और विरोध भी । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा भी है - ''शायद ही भारतवर्ष के साहित्य में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा ।''

आदिकाल का महत्त्व इस बात में तो है ही कि वह हिंदी सहित्य के विकास का शुरुआती दौर है, किंतु साथ ही यह परवर्ती हिंदी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों, काव्य शैलियों आदि का उद्‌गम स्थल भी है । इस युग के साहित्य में भाषा की दृष्टि से हिंदी के आदि रूप की जानकारी मिलती है और भाव की दृष्टि से हम इसमें आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रारंभिक रूप को देख सकते हैं । काव्यरूपों के प्रयोग की दृष्टि से भी इस युग के साहित्य का महत्त्व है । इस युग के सिद्धों और नाथों का प्रभाव भक्तिकाल में कबीर आदि संत कवियों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार - ''कबीर आदि निर्गुणवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह संपूर्णतः भारतीय हैं और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा संबंध है । वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों की थीं । क्या भाव, क्या भाषा

तथा क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द, सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्ग दर्शक हैं ।"

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार चौरासी सिद्धों में 36 बिहार के निवासी थे, और जो बिहारी नहीं थे, वे भी बिहार के नालंदा और विक्रमशिला से जुड़े थे । इस तरह यह बात साफ है कि चौरासी सिद्धों की साहित्य सेवा का मूल स्रोत बिहार ही रहा है । सिद्ध-साहित्यकारों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, भुसुकपा का नाम उल्लेखनीय है । इनके अतिरिक्त शांतिरक्षित नामक सिद्ध अपनी विद्वत्ता के लिए सुप्रसिद्ध थे । 'प्राणसंकली' के रचनाकार चौरंगीया उस समय के एकमात्र गद्यकार माने गए हैं । इनके गद्य में भोजपुरी भाषा की झलक मिलती है ।

चौदहवीं शताब्दी में मिथिला के साहित्यकारों ने हिंदी की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग दिया । इन साहित्यकारों ने शृंगार और भक्तिपरक रचनाएँ की हैं । भक्तिपरक रचनाओं में भगवान-कृष्ण और शिव के प्रति भक्ति भावना प्रदर्शित है । काव्यत्व की दृष्टि से महाकवि विद्यापति, उमापति और दामोदर विशेष उल्लेखनीय हैं । उमापति नाटककार थे । इनकी देखादेखी बहुत से नाटक आगे लिखे गए । ज्योतिरीश्वर ठाकुर हिंदी के आरंभिक गद्यकारों में एक माने जाते हैं । इस तरह इस युग में बिहार की साहित्य सेवा अत्यंत महत्त्व की है ।

□□□